बा०
१३८

[पैम्फलेट नं० २
दूसरा संस्करण]

(२६)

मूल्य
एक आना

होटल

वियोगी हरि

हरिजन सेवक संघ

होटल

"क्यों भाई डूँगरसी, कल रात को वह क्या जलसा था तुम्हारी बस्ती में, रोशनी बड़ी दूर से जगमगा रही थी। गैस के हंडे जला रखे थे क्या?" केशवलाल त्रिवेदी ने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

"आपजी, जलसा सचमुच कल रात को हमारा बड़ा शानदार रहा। आपको तो बहुत याद किया हम लोगों ने। आप और लीलाबेन ये दो ही तो हम ढेड़ लोगों का साथ देनेवाले आज इस सारे शहर में हैं। आपकी बहुत याद आई।"

"तुम तो जानते ही हो कि अहमदाबाद इधर दो मास से मेरा बार-बार जाना-आना रहता है। रात को १२ बजे ही तो मैं अहमदाबाद से वापस आया। डूँगरसी, पर यह तो तुमने बताया ही नहीं कि जलसा था यह किस बात का? तुम ग़रीब लोगों को इतना ज़्यादा पैसा खर्च नहीं करना चाहिए। ज़रूर दस-बारह गैस की बत्तियाँ तुम लोगों ने मँगाई होंगी। गाड़ी के डिब्बे में से मुझे कोई दो-तीन कोस से रोशनी दिखाई पड़ने लगी थी।"

बापजी, हम लोगों ने बड़े समारोह से अपना एक होटल बस्ती के सामने के मैदान में कल रात को खोला है। उसीकी रोशनी थी वह। गैस के बीस हण्डे हम किराये पर लाये थे। होटल को केले के पत्तों, बन्दनवारों और रंग-बिरंगी झंडियों से हम लोगों ने खूब सजाया था। बाँस की टट्टियों की दीवारें और घास फूस का छप्पर खड़ा करके कामचलाऊ होटल अभी हाल हमने अपना बना लिया है; पीछे देखेंगे, पैसा आजायेगा तो पक्का कमरा भी बना लेंगे। जमाव पाँच-छह सौ आदमियों का हो गया था। गाना-बजाना भी अच्छा जमा था, और हमारी तीनों बस्तियों की बहनों ने गरबा-नृत्य भी किया था। बापजी, आपकी याद हम सब छोकरों को बहुत आई।"

"डूँगरसी, अपना अलग होटल जमाने में तुमने थोड़ी जल्दी की। लीलाबेन और मैं तो गाँव के दोनों होटलों को तुम लोगों के लिए खुलवा देने का यत्न कर रहे थे। चार ही दिन तो हुए, जब तुम लोग मुझसे सेवा-सदन में मिलने आये थे; उस दिन तुमने इसकी कोई चर्चा भी नहीं की थी। तत्काल क्या ऐसी बात हुई कि तुम लोगों ने इतनी जल्दी अपना यह होटल खोल लिया?" केशवलाल भाई ने थोड़ा खिन्न होकर पूछा।

"बापजी, हाँ बनाव एक ऐसा ही बन गया, कि परसों रात को हमारी तीनों बस्तियों ने अपना होटल खोलने का तय कर लिया, और कल एक ही दिन में बाँस और घास-फूस का छप्पर खड़ा करके हमने अपना होटल जमा लिया। बनाव, हाँ, वह कुछ ऐसा ही बन गया था, बापजी।"

"वह क्या?"

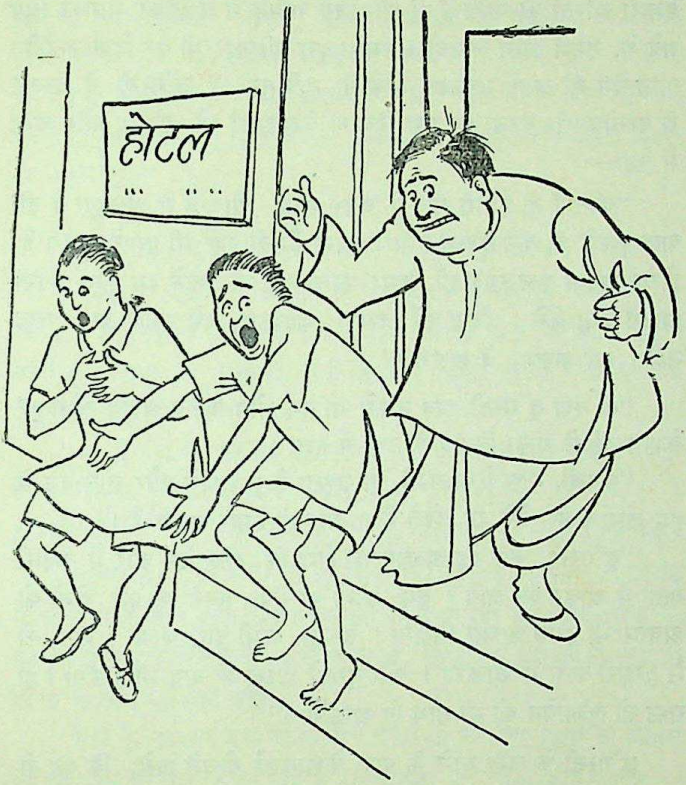

"हमारे छोकरों को धक्के देकर होटल से बाहर निकाल दिया।"

"हुआ यह कि हमारे तीन-चार छोकरे 'लक्ष्मीविलास' होटल में जाकर कुर्सियों पर बैठ गये और उन्होंने एक-एक प्याला चाय लाने को होटल के एक छोकरे को आर्डर दे दिया। पहचानते तो थे ही कि वे जाति के ढेड़ हैं। बहुत बुरी-बुरी गालियाँ दीं और हमारे छोकरों को धक्के देकर होटल से बाहर निकाल दिया। एक को तो पीटा भी। और इतना ही नहीं, बीस-पचीस आदमियों को लेकर होटलवाले हमारे अन्त्यज-वास पर भी चढ़ आये।

हमारी औरतों को गालियाँ दीं और जिस झोपड़े में वे छोकरे भागकर छिप गये थे, उनमें आग लगादी। हमारा पूरा बहिष्कार भी कर दिया उन्होंने। लीलावेन की बात उत्तेजित भीड़ ने नहीं सुनी।" डूँगरसी ने विस्तार से परसोंवाली घटना का पूरा विवरण केशवभाई को सुनाया और अन्त में कहा—

"बस्तियाँ तो हमारी गाँव के बाहर आम आबादी से अलहदा हैं हीं; बाल काटने की तीन दूकाने हमारी अपनी हैं; दो कुएँ भी हमारे अलग हैं; होटल अपना कल खोल ही लिया; परचून की भी दूकानें हम लोग अपनी अलग जमा लेंगे। किया करें हमारा बहिष्कार, हमें उनकी अब परवा नहीं। हम अलग, वे अलग।"

"तो क्या डूँगरसी, अब मुझसे भी तुम लोग अलग-अलग रहोगे?" केशवभाई ने थोड़ा विनोद के स्वर में पूछा।

"बापजी, भला ऐसा कभी हो सकता है! आपसे और लीलावेन से हम लोग अलग कैसे रह सकते हैं? आप तो हमारे घर के हैं।"

"डूँगरसी, क्या यह अच्छा नहीं होगा कि लीलावेन और मैं तुम्हारी बस्ती में आकर बस जायें? तुम लोगों की सेवा करने का हम दोनों को अवसर भी इससे अच्छा मिलेगा। अच्छा, अभी तुम जाओ। शाम को मैं तुम्हारी बस्ती में आऊँगा। और तुम्हारे होटल में चाय भी पीऊँगा। हो सका तो लीलावेन को भी साथ ले आऊँगा।"

डूँगरसी के चले जाने के बाद केशवभाई सोचने लगे, कि यह तो बहुत बुरा हुआ। तनाव यहाँतक बढ़ गया कि हरिजनों ने अपना अलग होटल भी खोल लिया। यह अलगाव बढ़ते-बढ़ते कहाँतक ले जायेगा हमें? हरिजनों का काम तो चल जायगा, पर सवर्ण समाज के लिए तो यह बड़ी शरम की बात होगी। अपनी भूलों को सुधारने का मौक़ा उनके हाथ से निकल जायगा। हमारे धर्म पर जो कलंक लग चुका है वह सदा लगा ही रहेगा। समाज के खंड-खंड हो जाने का भी इतना भय नहीं, जितना कि हमारे धर्म पर धब्बा लगे रहने का भय है। यदि मानवता की प्रतिष्ठा न

रही, तो धर्म फिर कहाँ टिकेगा ? हाँ, मानवता को बहुत बुरी तरह अप्रतिष्ठित किया जा रहा है। ढेड़ भाइयों को अपना अलग होटल खोल लेने के लिए जो मज़बूर किया गया, इससे तो हमारे दिल और-और भी दूर होते जावेंगे। हम ऐसा नहीं होने देंगे। वह केवल अन्त्यजों का होटल नहीं रहेगा; होटल वह सबका होगा।

(२)

अन्त्यज-वास के नये होटल में शाम को जाकर केशवभाई और लीलावेन ने चाय का एक-एक प्याला और एक-एक पलेट गाँठिया लिया। डूँगरसी ने उन्हें बतलाया कि होटल हमारा बड़ा अच्छा चल जावेगा। हमारी तीनों ही बस्तियों के पचासों भाई-बहनों ने हमारे होटल में आकर बड़े उछाह से जल-पान किया।

"सो तो ठीक है, पर यह केवल तुम्हारा ही होटल नहीं रहेगा। इसे तो हम सबका बनाकर छोड़ेंगे। और वे दूसरे होटल भी सिर्फ़ सवर्णों के ही नहीं रहेंगे।" गंभीर विचारों में डूबी हुई लीलावेन ने दृढ़तापूर्वक कहा।

"लीलाबेन, ऐसा होना तो हमें शक्य नहीं दीखता। आज भी सौराष्ट्र में अन्त्यजों के साथ कैसा-कैसा अमानुषी बर्ताव हो रहा है ! उस सौराष्ट्र में, जहाँकि पूज्य बापू और ठक्कर बापा ने जन्म लिया।" डूँगरसी ने निराशा की लम्बी साँस खींचकर कहा।

"सही है; यह सब हम जानते हैं। फिर भी फटे हुए दिलों को जोड़ने का हम यत्न करेंगे। अपने रक्त से भी जोड़ना पड़े तोभी जोड़ेंगे।"

(३)

आज रेंटिया-बारस है—गांधीजी का जन्मदिन। अन्त्यज-वास में होटल खुले तीन महीने हो गये हैं। लीलाबेन और केशवभाई के ये पिछले दिन घर-घर प्रेम का संदेश सुनाने और फैलाने में गये। बिलग-बिलग हृदयों को जोड़ने और प्रेम के धागे में गूँथने का उन्होंने दिन-रात यत्न किया। हवा में एक निराली सुगंध भर गई। जन-जन के सुख-दुख में इन दोनों लोक-सेवकों ने अपने-आपको घुला-मिला दिया। बहुतों के अन्तर में प्रेम

का बाण बिध गया। उन्हें दीखने लगा कि अपने आपको बड़ा और दूसरों को छोटा मानना यह सर्वात्मा के प्रति विद्रोह करना है।

ऐसे भी कई जन थे, जो प्रेम के बाण से बिध नहीं पाये थे। निशाना उनपर विफल हो गया था। अपने अन्तर के चुम्बक को उन्होंने इतना अधिक निःशक्त कर लिया था कि वह हरिजनों को अपनी ओर खींच नहीं पा रहा था। तब उनपर लीलाबेन को मज़बूरन अन्तिम अस्त्र चलाना पड़ा।

लीलाबेन के दस दिन के अनशन ने विरोधियों के पाषाणहृदय भी बेध डाले। उनके अन्तर का एक-एक तार झंकृत हो उठा। अनशन यह अपने शुद्ध तप के रूप में हुआ था। न रोष था उसमें, न अहंकार।

इस वर्ष रैंटिया-बारस का उत्सव एक निराली ही उमंग से मनाया जा रहा है। हरिजन-वास में अपूर्व उत्साह और हर्ष की लहर दौड़ रही है। अपनी-अपनी सूत्रांजलि चढ़ाने आसपास के कई गाँवों के लोग गांधी-मंडप के सामने, जहाँ अखंड कताई चल रही है, जमा हो गये हैं।

बस्ती का नया-नया होटल अब केवल हरिजनों का ही होटल नहीं रहा। शहर के उन दोनों होटलों में भी हरिजन ही आज अपने हाथों से सवर्णों को चाय, चिवड़ा और गाँठिया परोस रहे हैं। हरिजनों के कुएँ पर से सवर्ण बहनें और सवर्णों के कुओं पर से हरिजन बहनें घड़े भर-भरकर ले जा रही हैं। मन्दिर भी सबके लिए सब खुल गये हैं। सवर्ण और हरिजन बहनें गरबा रास हँस-हँसकर हिली-मिली कर रही हैं, और प्रेम की उमंग में झूम-झूमकर गा रही हैं—

'आवो उमंगभरी दुनियाना चौक मा, सर्वोदय साधवा काज,
बापूनी जय बोलो, हैयाना द्वार खोलो।'

कंचन बरस रहा है हर गली में, और हर आँगन में आज।

कुत्ते का पिल्ला था ?

"ऐसी भी क्या जल्दी हैं बाबू ? सामने की इन एक-दो कोठरियों को भी आप लोग अन्दर से देखलें न । बाबू, हमारी इन दो कोठरियों को तो ज़रूर ! उधर की भी वे तमाम कोठरियाँ ऐसी ही बरसों से बेमरम्मत पड़ी हैं । हमारी साथ-साथ हो लिये कोयले के गर्द से सने, कमर पर एक-एक चीथड़ा लपेटे दस-पन्द्रह मुशहरों में से एक बूढ़े कंकाल ने हाथ उठाकर कहा ।

अन्दर झाँककर एक कोठरी को देखा,—क्योंकि एक-दो बस्तियों का निरीक्षण भी हमारे कार्यक्रम में शामिल था । मुश्किल से दो आदमियों के रहनेलायक छोटी-सी कोठरी थी वह । चालीस-पचास साल पहले वह बनी होगी । बाहर से ही उसकी दीवारें मुहँ बाये अपनी अतीत की कहानी कह रही थीं । उसके अन्दर की आप-बीती को तो घने अँधेरे में हम बहुत धीरे-धीरे कुछ-कुछ पढ़ सके । छोटे-से अधखुले दरवाज़े से मैंने अंदर झाँका । पहले तो कुछ भी नहीं सूझा । फर्श कुछ नीचान में था । इतनी सड़ी सीलन थी वहाँ कि दुर्गंध आ रही थी । काली-काली छिपकलियाँ दीवारों पर इधर-उधर रेंग रही थीं । देखा कि कोने में एक काला पिल्ला भी पड़ा वहीं कुलबुला रहा है ।

"क्या गन्दी आदतें हैं तुम लोगों की, कि एक तो योंही इस सड़ी सीलन और सामने लगे इस कचरे के घूर की दुर्गंध से नाक फटी जा रही है, और उसपर यह घिनौना पिल्ला चूल्हे के पास तुमने बाँध रखा है!" उपदेश के-से सुर में उस बूढ़े मुशहर से मैंने कहा।

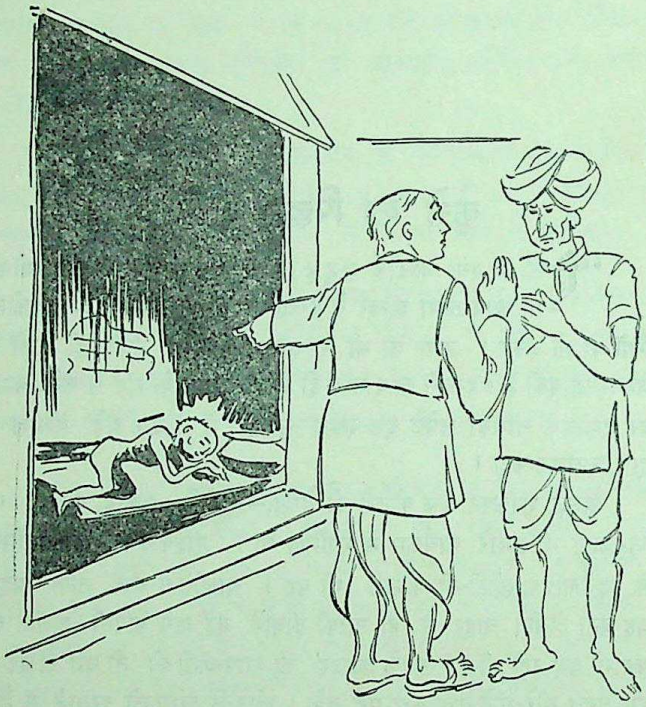

"उसपर यह घिनौना पिल्ला चूल्हे के पास तुमने बाँध रखा है!"

"ना, बाबू, यह पिल्ला नहीं है, यह तो हमारा छोटा बच्चा सो रहा है। माँ इसकी काम पर गई है। मजूरी का दिन है न आज। रोज़-रोज़ कहाँ मजूरी मिलती है, बाबू? कहीं तीसरे दिन बारी आती है। हाँ बाबू, देखो न वहीं

पास में इसकी माँ थोड़ा-सा भात और माँड़ रख गई है। उठेगा तब खा लेगा। लो, वह उठ ही बैठा। देखा बाबू, यह कुत्ते का पिल्ला नहीं है; मानस का, मुशहर का बच्चा है यह।"

देखा कि मैं धोखा खा गया था। मनुष्य के बच्चे को मैं कुत्ते का पिल्ला समझ बैठा था। सीलन-भरे काले फर्श पर वह एकदम नंगा मीठी नींद ले रहा था कोयले के जैसा कलूटा। हम बाबुओं को देखकर हकबका गया बेचारा। अपने भात की हंडिया को दोनों नन्हें-नन्हें हाथों से पकड़ लिया—इस डर से कि शायद हम लोग उसकी सारी संपदा को न छीन ले भागें। आखें उसकी अन्दर को धँस रही थीं, गाल पिचक गये थे, और एक-एक पसली दीख रही थी।

मिट्टी के दो-तीन बर्तन वहीं कोने में रखे थे, एक में दो-तीन मुट्ठी उसका चावल पड़ा था, और दूसरे में दो-तीन प्याज, लाल मिर्चा और कुछ नमक। टाट की एक फटी बोरी, और बेशर्मी से धोती का नाम छीन लेनेवाला बीसों छेदों व पैबन्दों का एक काला-सा चीथड़ा खूँटी पर टँगा था। टीन की दो टूटी कटोरियाँ भी चूल्हे के पास खाली पड़ी थीं। यही सारा वैभव था उस कोठरी का, जिसे रोशनी और हवा के भी परिग्रह का लोभ नहीं था।

छत कई जगह से टूट रही थी, बड़ी-बड़ी दरारें पड़ गई थीं। "बरसात में" बूढ़े ने कहा, "इन कोठरियों में पानी-ही-पानी भर जाता है बाबू, भात पकाने को भी जगह नहीं रहती।"

"बरसात में और किसी जगह तुम लोगों को अपना डेरा-डंडा उठाकर रख लेना चाहिए। सामने के इन मकानों में काफ़ी जगह खाली पड़ी है," रास्ता बतलाते हुए मैंने कहा।

"ना बाबू! हमलोग वहाँ अपना डेरा-डंडा कैसे रख सकते हैं? हम-लोग .रीब तो हैं ही, अछूत भी तो हैं। आपलोगों के कुएँ पर हमलोग चढ

नहीं सकके, बराबरी से बैठ-उठ नहीं सकते । और आप वहाँ पर हमारे डेरा-डंडा रख लेने की सलाह देते हैं !"

आगे चलकर अब उनकी और कोठरियाँ देखना बेकार ही था। हरिजन-बस्ती देखने का प्रोग्राम हमने वहीं समाप्त कर दिया। इसके पहले भी हमें बताया गया था, और बाद को जब एक ठेकेदार साहब के आलीशान बंगले पर हमारा आतिथ्य किया गया तब भी हमसे कहा गया कि 'कोयला उतारने व ढोनेवाले मज़दूरों को वहाँ कोई ख़ास तकलीफ़ नहीं है। कमाते हैं सब और खूब चैन से रहते हैं।"

हमलोग सुने जा रहे थे और स्वादिष्ट भोजन भी करते जाते थे। साथ-साथ पिल्ले-जैसे उस मुशहर बच्चे का डरावना चित्र भी हमारे सामने नाच रहा था, और हंडिया का वह बासी भात और पतला-पतला माँड़ भी।

सोचता था कि उस मुशहर बच्चे को पिल्ला समझकर मैंने दोहरी भूल की। पिल्ले तो कोई-कोई बड़े भाग्यशाली होते हैं। प्यालियों में वे दूध पीते हैं और बिस्कुट और मांस-खंड खाते हैं, और नरम गद्दे पर सोते हैं अच्छे सजे-सजाये कमरों में।

ये शिल्पकार भी !

सन् १९३४ की वह प्रथम यात्रा थी मेरी गढ़वाल-प्रदेश की। उधर की अनेक आश्चर्यजनक कथाओं के साथ-साथ यह भी सुन रखा था कि 'अस्पृश्य मानव' उत्तराखण्ड के प्रदेशों में भी पाये जाते हैं—जिन लोकों में कि देवों और यक्ष-गन्धर्वों का वास माना जाता है। पर विश्वास नहीं जम रहा था। अमृत-रूप देवतात्मा अपने अंक में विषमता के विष को कैसे धारण कर सकता है? कल्पना ने तो यही सिखाया था कि वहाँ पर प्रकृति ने सारी ही सृष्टि को अंक में भर लेने के लिए करुणा और मैत्री की लंबी-लंबी बाहें फैला रखी हैं। सोचा था कि मानव-मानव के बीच के ये सारे अंतर गल-गलकर वहाँ अभेद की अलकनन्दा में समरस हो गये होंगे। उन रमणीक उपत्यकाओं और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर दृष्टि डाली, तो ऐसा लगा कि देवदारु की वर्त्तिका लेकर हिम-शिलाओं पर प्रकृतिदेवीने अभेद और अद्वैत के ब्रह्मसूत्रों को कदाचित् यहीं सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया होगा।

इतना ही तबतक मैं जानता था कि दो ही प्रकार के मानव-प्राणियों को 'अस्पृश्य' कहा और माना जाता है; कारण कि उन्हीं दो ने सेवा के रूप में समाज के प्रति अपराध किये हैं। एक अर्धमानव तो मानवों और देवों का मल-मूत्र हाथों से उठा-उठाकर जीवनभर फेंकता रहा और दूसरे ने मृतपशुओं को कंधों पर लाद-लादकर ढोया, फिर उनका चमड़ा उधेड़ा, उसे पकाया, रँगा और उससे मानवों और देवों के नग्नचरणों को सजाया।

पर यहाँ तो दोनों ही प्रकार के ये अस्पृश्य मानव या अर्धमानव देखने में नहीं आये। कहीं-कहीं पर दिखे भी, तो नीचे के प्रदेशों के मूल निवासी थे वे।

गढ़वाल के मुख्य नगर पौड़ी को जाते हुए हम लोग एक छोटे-से गाँव में दो घड़ी ठहर गये। गाँव के मुखिया से मिलकर यहाँ डोला-पालकी की जटिल समस्या पर चर्चा करनी थी। शिक्षित और समझदार था मुखिया। विवाह के अवसर पर शिल्पकार वर-वधू द्वारा डोला-पालकी का उपयोग करने पर उसे खुद को कोई आपत्ति नहीं थी। गरम-गरम चाय का गिलास देते हुए उसने कहा—

"जी, मैंने तो उस दिन गाँववालों को बहुतेरा समझाया, पर किसीने मेरी सुनी नहीं। ज़ाहिल हैं, जो डोला-पालकी के क्षुद्र प्रश्न को लेकर ग़रीब शिल्पकार बन्धुओं का कड़ा बहिष्कार और कभी-कभी मारपीटतक कर बैठते हैं। तब ये कुछ नहीं कहते, जब यही शिल्पकार फौज का अफसर बनकर हवाई जहाज में इनके सिर के ऊपर से निकल जाता है।

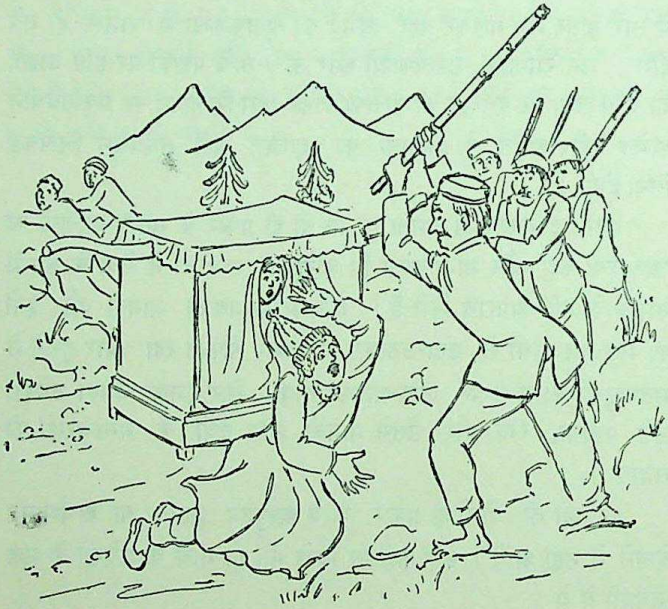

"डोला-पालकी के प्रश्न को लेकर कभी-कभी मारपीट तक कर बैठते हैं।"

महाशयजी, हमलोग तो सचमुच उस दिन की उस दुर्घटना से मुँह दिखाने-योग्य भी नहीं रहे। कई शिल्पकार बारातियों को चोटें आईं, उनके दूलह को खाट पर अस्पताल भेजवाना पड़ा और उनकी डोला-पालकी को हमारे उत्तेजित आदमियों ने तोड़-ताड़कर फेंक दिया।" मुखिया के कथन में सचमुच पश्चात्ताप था, सहानुभूति थी।

"इस डोला-पालकी के प्रश्न ने दूर-दूरतक आपके स्वर्गोपम प्रदेश को बदनाम और कलंकित कर रखा है। कानून और अदालतें ऐसे-ऐसे आपसी मामलों में हस्तक्षेप करें यह आप लोगों के लिए कुछ शोभा की बात नहीं। क्यों, वंशीधर, तुमने जो,—ऐं! वंशीधर कहाँ रह गये? वह और उनके साथी शंकर अभीतक तो हमारे साथ ही थे। डोला-पालकी की ऐसी ही और दो-तीन दुःखद घटनाएँ उन्होंने हमें अभी-अभी सुनाई थीं।

वंशीधर और शंकर मुखिया के मकान के सामने वहीं एक पेड़ के नीचे बैठे बात कर रहे थे। मेरे बुलाने पर भी वे मकान के अन्दर नहीं आये। मुखिया औरों से कुछ आगे तो था, पर यह हिम्मत उसमें नहीं थी कि शिल्पकारों को अपने मकान के अंदर बैठा सके। चाय उन दोनों को, शिल्पकारों के लिए सुरक्षित अलग गिलासों में, भेजवा दी गई थी।

हमें यह पता नहीं था कि हमारे ये दोनों सुरक्षित और संस्कारी मित्र जाति के शिल्पकार थे और अछूत! यहाँतक कि देव-मन्दिर की बात तो दूर, मानव-मन्दिर के अन्दर भी पैर नहीं रख सकते थे वे। पहले से यह पता होता, तो हम लोग भी मुखिया के मकान के भीतर न जाते, बाहर ही पेड़ की छाँह में बैठकर गाँव के मुखिया से डोला-पालकी के प्रश्न पर बात कर लेते। उनके इस अपमान से मन में भारी ग्लानि हुई!

वंशीधर के पिता और बड़े भाई दोनों ही कुशल कर्मकार हैं। काष्ठ-शिल्प के लिए उनका घराना दूर-दूरतक मशहूर है। काष्ठ की ये लोग

सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ भी बनाते हैं। किन्तु उनकी कला की कोई क़द्र नहीं। समाज में ये लोग अछूत माने जाते है। इसीसे वंशीधर को उन्होंने काष्ठ-उद्योग में न डालकर देहरादून के डी० ए० वी० कालेज में बी० ए० तक पढ़ाया और उसे रोज़-रोज़ के अपमानों से बचाने का प्रयत्न किया। एक दिन के परिचय से ही मैंने देख लिया कि वंशीधर के अन्तर में वह आग धधक रही है, जिससे समूचे समाज को वह भस्म कर देना चाहता है। गतवर्ष ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने का वह निश्चय कर चुका था। पर उसके मित्र शंकर ने उसे ऐसा नहीं करने दिया।

शंकर भी जाति का शिल्पकार है। वह लोहार है। कालेज की शिक्षा उसने भी पायी है। बी० ए० करने के बाद घर में अपने पिता से उसने लोहार का काम सीख लिया है। सरकारी नौकरी उसको मिल सकती थी, पर नौकरी करने का उसका मन नहीं हुआ। जिस झरने पर से सवर्ण लोग पानी लेजाते हैं, उसका उपयोग शिल्पकार लोग नहीं कर सकते। डोला-पालकी पर विवाह के समय खुद शंकर और उसके बूढ़े दादा को मन्दिर के खंडहर में चले जाने पर दो-तीन ब्राह्मणों ने एकबार पीटा भी था। मिशनवालों ने उसे भी ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने का लोभ दिखाया था, पर अपने लोगों में क्योंकि वह जागरण और साहस देखना चाहता है और शिल्पकार रहकर ही शिल्पकारों को समाज में मानवोचित स्थान दिलाना चाहता है, इसलिए धर्मान्तर उसे लुभा नहीं पाया।

बातचीत के सिलसिले में वंशीधर ने हमें बतलाया कि कपड़े सीने-वाले दर्जी भी उसके प्रदेश में अस्पृश्य माने जाते हैं।

तब बढ़ई, लोहार, दर्जी ये तमाम शिल्पी, समाज के निर्माता ये कर्म-कार तो मान लिये गये अस्पृश्य, और स्पृश्य और उच्च माना जाता है वह ब्रह्मन्य वर्ग, जिसने हर तरह के निर्माण से हाथ खींच लिया और जिसका मस्तिष्क विनाश और विध्वंस से चिपटते के लिए तेज़ी से दौड़ रहा है,--कभी शास्त्रकार के, तो कभी भू-स्वामी के रूप में।

गहन का दान

"गहन का दान दो, बाबू, गहन का दान मिले," चिल्ला-चिल्लाकर डोमों व भंगियों की तीसरी टोली भी गहन का दान माँगती हुई रमेश के बंगले के सामने से निकल गई। चन्द्र-ग्रहण साँझ के सात बजे से ही लग गया था। ग्रहण यह खग्रास था। रमेश अपने कमरे की खिड़की से ग्रहण को बड़े ध्यान से देख रहा था, जो अब छूटने ही वाला था। वह इतनाकुछ खगोल-विज्ञान भली-भाँति जानता है कि चन्द्र और सूर्य के ग्रहण किस प्रकार पड़ा करते हैं। उसके पिता महेश बाबू यद्यपि कालेज में साइंस के प्रोफेसर हैं, तथापि वे बहुत-सी पौराणिक कथाओं पर भी विश्वास करते हैं। और रमेश की माँ तो एकदम पुराने विचारों की गृहणी हैं। वेध लगते ही पण्डितों को बुलाकर पाठ-पूजन उसने प्रारम्भ कर दिया था। सूतक में न रसोई बनी, और तब से न रमेश की माँ ने और न महेश बाबू ने पानीतक मुँह में डाला। ग्रहण के मोक्ष हो जाने पर रात के बारह बजे जमना-जी में स्नान-पूजन होगा और उसके बाद ही अन्न-जल ये दोनों प्राणी ग्रहण करेंगे। गहन का दान माँगनेवाले डोमलोगों को भी एक-एक मुट्ठी अनाज रमेश की दयालु माँ ने दिया। रमेश अपनी माँ की इस अन्धश्रद्धा पर मन-ही-मन हँस रहा था। पर अपने पिता, साइंस के प्रोफेसर महेश बाबू पर उसे खीझ भी आ रही थी। वह हैरान था कि एक खगोल-विज्ञान का विद्वान् प्रोफेसर पुराणों की अजीब-सी कपोल-कल्पना पर कैसे विश्वास कर रहा है! माँ की चोरी से वह एक होटल में कुछ खा पी आया था, इसलिए चन्द्रमा को कई घण्टे अपना ग्रास बनाये रखने पर भी राहु को उसने बहुत बुरा-भला नहीं कहा।

गहन के दान की वह पुरानी कहानी रमेश को याद आ गई, जो उसकी बूढ़ी दादी ने बचपन में उसे सुनाई थी। तब वह छह-सात साल का रहा होगा। दादी ने उसे बतलाया था—

"चाँद और सूरज दोनों ही कैसे सुन्दर हैं, और चाँद तो बच्चों का

प्यारा मामा भी है, जिसे वे प्रेम से बुलाया करते हैं, 'चन्दा मामा आजा, आजा।' पूनों के ऐसे सुन्दर चन्दा मामा को और कभी-कभी अमावस के दिन सूरज दादा को दुष्ट राहु निगल जाने को दौड़ पड़ता है, और कभी चाँद को तो कभी सूरज को अपने मुँह में लाल-लाल गेंद की तरह रख लेता है। हमारे पाठ-पूजन और होम करने से राहु की हिम्मत नहीं पड़ती कि पूनों के चाँद को और अमावस के सूरज को निगलकर वह अपने पेट में रखले। डोम-भंगियों को जब हम गहन का दान देते हैं, तब राहु तुरन्त चाँद और सूरज को उगल देता है। बात यह है कि राहु जाति का यातो डोम या भंगी। उसके वंशवालों को दान देने से वह खूब खुश होता है और खुशी-खुशी चाँद और सूरज को छोड़ देता है।

रमेश उस पुरानी कहानी को यादकर सोचने लगा कि जिन भंगियों और डोमों को घर की बची-खुची जूठन खाने को दी जाती है, बल्कि उनके सामने दूर से फेंक दी जाती है, उन्ही को दान भी ग्रहण-वेला में श्रद्धालु लोग देते हैं,—यह मानकर कि वह दुष्ट राहु के वंशज हैं।

अच्छा, तो, ये डोम और भंगी उस अपवित्र लोक के मूल निवासी हैं, जिसका अधिपति वह दुष्ट राहु है! हमारे चन्द्रदेव और सूर्यनारायण को ग्रस लेनेवाले राहु के वंशधरों को तब रिश्वत के रूप में ही ग्रहण-काल में यह अन्न-दान दिया जाता है।

रमेश ने अबतक यही पढ़ा था कि दान माँगने तथा दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है। वह समझ नहीं पा रहा था कि अछूतों के दान माँगने और दान लेने के अनधिकार को ब्राह्मण सहन कैसे कर लेता है। दादी की उस कहानी ने अर्थ खोल दिया कि गहन का दान,दान नहीं अछूतों के प्रति किया जानेवाला महान् तिरस्कार है, और यह भी उसे स्पष्ट हो गया कि तिरस्कार ही वह दुष्ट राहु है, जिसकी काली-काली छाया युगों से हमारे धर्म के शुभ्र रश्मि-मण्डलों पर पड़ रही है। इस मूढ़ग्राही ग्रहण का जाने कब अन्त होगा!

हमारा प्रचार-साहित्य

१. अन्त्या-आरती	—एक आना
२. होटल	—एक आना
३. मोहना	—एक आना
४. मन्दिर के द्वार पर	—दो पैसे
५. बाबा विश्वनाथ डोम-बस्ती में	—दो पैसे
६. कुठाराघात—छुआछूत और जाति-पाँति पर	—दो पैसे
७. दससूत्री कार्यक्रम	—दो पैसे
८. अस्पृश्यता-एक महापाप	—एक आना
९. जाति नहीं, पानी माँगा है	—एक आना
१०. मानवता	—एक आना
११. प्रभात-फेरी के गीत	—दो पैसे
१२. तीन पीढ़ियाँ	—डेढ़ आना
१३. लोक गीत	—एक आना
१४. मंदिर-प्रवेश	—एक आना

पोस्टर

१. दूर से पानी डाला जा रहा है—१२बरबे के १००
२. कुएँ ही नहीं, हृदय भी खोल दिये ,, ,,
३. श्री राम शबरी ,, ,,
४. परन्तु देव-दर्शनार्थी हरिजनों से ! ,, ,,
५. अगला जन्म भंगी के घर में हो ,, ,,
६. हरिजनो, इस कारागार से छुटकारा ,, ,,

"हरिजन-सेवा"—हरिजन-सेवक-संघ की द्विभाषिक मुख-पत्रिका—वार्षिक मूल्य ३) रुपये

प्रकाशक—हरिजन-सेवक-संघ, दिल्ली
मुद्रक—वियोगी हरि, उद्योगशाला प्रेस, दिल्ली-६